

अनेकान्तात्मक प्रवचन की आवश्यकता

डॉ० रतनचन्द्र जैन

आज तत्त्व के विषय में जिज्ञासुओं की एकान्त धारणाएँ बन रही हैं। कोई निश्चयनय के ही कथन को सत्य मानता है, कोई व्यवहारनय के ही। इसका प्रमुख कारण है एकान्त प्रवचन। तत्त्व अनेकान्त है अर्थात् परस्पर-विरुद्ध धर्मयुगलों से समन्वित है। अनेकान्त तत्त्व का बोध कराने के लिए उसके दोनों पक्षों का कथन आवश्यक है। किन्तु अनेक प्रवचनकर्त्ता एक पक्ष का ही कथन करते हैं अथवा एक पर ही अनावश्यक बल देते हैं, दूसरे की उपेक्षा करते हैं। इससे जिज्ञासुओं या श्रोताओं की दृष्टि में वस्तु का एक ही पक्ष आ पाता है। फल-स्वरूप उसके विषय में उनकी एकान्त धारणा बन जाती है। उदाहरणार्थ, सम्यक्त्वसहित शुभपरिणाम केवल पुण्यबन्ध का कारण नहीं है, परम्परया मोक्ष का भी हेतु है। किन्तु कुछ प्रवचनकार उसकी बन्धहेतुता का ही वर्णन करते हैं, परोक्ष मोक्षहेतुता की चर्चा नहीं करते और कुछ उसकी परोक्ष मोक्षहेतुता पर ही बल देते हैं, बन्धहेतुता के विषय में मौन हो जाते हैं। इसी प्रकार कोई व्यवहारमोक्षमार्ग की हेयता का ही कथन करता है और कोई उसकी उपादेयता पर ही प्रकाश डालता है। इससे श्रोताओं के मन में उक्त प्रकार की ही एकान्त धारणाएँ बन जाती हैं।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने एकान्तप्रवचन की हानियाँ बतलाते हुए कहा है कि “तीर्थप्रवृत्ति के निमित्त परमार्थ सत्य के साथ-साथ व्यवहार सत्य का दर्शाया जाना भी आवश्यक है, क्योंकि शरीर और जीव में परमार्थतः जो भेद है केवल उसी को दर्शाने से लोग उनमें सर्वथा भेद समझ लेंगे और प्राणियों के शरीर का घात करने में हिंसा नहीं मानेंगे। तब वे निःसंकोच प्राणियों का वध करेंगे। इससे पापबन्ध होगा और मोक्ष असंभव हो जायेगा। इसी प्रकार आत्मा और रागादिभावों में परमार्थतः जो भिन्नता है, उसीका वर्णन करने से श्रोतागण उनमें सर्वथा भिन्नता मान लेंगे और अपने को पूर्ण शुद्ध समझकर मोक्ष का प्रयत्न ही न करेंगे।” (समयसार। आत्मख्याति ४६) इस प्रकार एकान्तप्रवचन अत्यन्त हानिकारक है।

विद्वानों के एकान्त प्रवचनों से न केवल श्रोता भ्रमित हो रहे हैं, विद्वज्जगत् में भी भयंकर द्वन्द्व उत्पन्न हो गया है। इसका निर्वेश करते हुए पूज्य क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी लिखते हैं—

“आज बड़े-बड़े विद्वान् भी परस्पर आक्षेप कर एक-दूसरे का विरोध करने में ही अपना समय व जीवन बर्बाद कर रहे हैं। एक केवल उपादान-उपादान की रट लगा रहा है, दूसरा केवल नैमित्तिक भावों या निमित्तों की। एक ज्ञानमात्र की महिमा का बखान करके केवल जानने-जानने की बात पर जोर लगा रहा है और दूसरा केवल व्रतादि बाह्य चारित्र धारण करने की बात पर। कितना अच्छा होता, यदि दोनों विरोधी बातों को अपने वक्तव्य में यथास्थान अवसर दिया जाता” (नयदर्पण, पृष्ठ ३३-३४)।

अनेकान्त तत्त्व का प्रवचन मुख्य-गौणभाव से होता है। एक बार में तत्त्व के एक ही पक्ष का कथन संभव है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि वस्तु के जिस धर्म को कथन में प्रमुखता दी जा रही है, उसके विषय में यह बतला दिया जाय कि यह धर्म इस विशेष अपेक्षा से ही वस्तु में है, सर्वथा नहीं। साथ ही यह सूचना भी दे दी जाय कि अमुक अपेक्षा से प्रतिपक्षी धर्म भी उसमें है। इससे एकान्त दृष्टिकोण निर्माण न होगा। प्रतिपक्षी धर्म की सूचना उसी समय देना आवश्यक है, अन्यथा श्रोता के मस्तिष्क में वस्तु का अनेकान्त चित्र निर्मित न होगा तथा यह संभव है कि उसे आगे प्रवचन सुनने का अवसर न मिले जिससे वह प्रतिपक्षी धर्म को जानने से अनिश्चित काल के लिए बंचित हो जाय। इससे उसके मस्तिष्क में वस्तु का अनेकान्त चित्र कभी न बन पायेगा और उसके विषय में उसकी सदा के लिए एकान्त धारणा बन जायेगी। अतः प्रवचनकर्त्ता के लिए अपना कथन अनेकान्त या स्याद्वादमय बनाना अत्यन्त आवश्यक है। श्री क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी ने इसे अत्यन्त आवश्यक बतलाते हुए यह कैसे किया जा सकता है, इसका सुन्दर निरूपण अपने ग्रन्थ नयदर्पण में किया है।

प्राचीन आचार्यों ने इस तथ्य को पूर्णरूपेण ध्यान में रखा है। श्रोता एकान्त को ग्रहण न कर ले इस विचार से वे एक पक्ष का निरूपण करते समय प्रतिपक्ष का स्पष्टीकरण भी साथ में करते गये हैं। यह निम्नलिखित उदाहरणों से जाना जा सकता है। आ०कुन्दकुन्ददेव

समयसार में कहते हैं—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहि ।

ववहारवेसिदा पुण जे वु अपरमे टिट्ठा भावे ॥

अर्थात् जो साधक सुद्धोपयोग में समर्थ हो गये हैं उनके लिए सुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म ही उपयोगी है, किन्तु जो उसमें समर्थ नहीं हुए हैं, उनके लिए विषयकषायरूप दुर्ध्यान का निरोध करने हेतु शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म भी उपयोगी है ।

(समयसार । तात्पर्यवृत्ति १२)

समयसार की उपर्युक्त गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपेक्षाभेद से निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म दोनों की उपादेयता निरूपण किया है ।

शुभप्रवृत्ति के विषय में उन्होंने प्रवचनसार में कहा है—

जोण्हाणं गिरवेक्खं सागारणगरचरियजुत्ताणं ।

अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥

—जैन मुनियों और श्रावकों की निष्कामभाव से सेवा करने पर यद्यपि किंचित् पुण्यबन्ध होता है, तथापि करनी चाहिए ।

इस गाथा में भगवान् कुन्दकुन्द ने शुभप्रवृत्ति की कथंचित् हेयरूपता तथा कथंचित् उपादेयरूपता दोनों का वर्णन किया है ।

निम्नलिखित वक्तव्य में आचार्य जयसेन से शुभोपयोग को पुण्यबन्ध का हेतु बतलाते समय उसके परम्परया मोक्षहेतु होने का भी निरूपण किया है—

“यदा सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परया निर्वाणं च, नो चेत् पुण्यबन्धमात्रमेव ।”

(प्रवचनसार । तात्पर्यवृत्ति ३।५५)

अर्थात् जब सम्यग्दर्शनपूर्वक शुभोपयोग होता है तब मुख्यरूप से पुण्यबन्ध होता है और परम्परया निर्वाण । सम्यग्दर्शनपूर्वक न होने पर मात्र पुण्यबन्ध ही होता है ।

इस प्रकार आचार्यों ने शिष्यों को एकान्तवाद से बचाने के लिए अपने प्रवचन को सदा अनेकान्तात्मक या स्याद्वादमय बनाया है ।

एकान्त प्रवचन से श्रोता एकान्तवादी बनकर मोक्ष की साधना में सफल नहीं हो पाता । कोई केवल निश्चय मोक्षमार्ग का उपदेश सुनकर उसी का अवलम्बन करता है, कोई केवल व्यवहार मोक्षमार्ग का उपदेश पाकर मात्र उसका आश्रय लेता है, जबकि यथावसर दोनों के अवलम्बन की आवश्यकता है, क्योंकि उनमें साध्यसाधक भाव है । व्यवहारमोक्षमार्ग के अवलम्बन के बिना निश्चय मोक्षमार्ग के अवलम्बन की योग्यता नहीं आती और निश्चयमोक्षमार्ग के आश्रय के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता । इसलिए एकान्तरूप से किसी एक का उपदेश देने से साधक का साधना में विफल होना अनिवार्य है । अतः साधक को तत्त्व का यथार्थ बोध कराने एवं मोक्ष की साधना में सफल बनाने के लिए अनेकान्तात्मक प्रवचन आवश्यक है ।

जैन दर्शन की एक विशिष्टता है उसका केवलज्ञान का सिद्धान्त । इसे प्रत्यक्ष ज्ञान या तत्क्षण ज्ञान भी कहते हैं । केवलज्ञान की परिभाषा दी गयी है कि यह परिपूर्ण, समग्र, असाधारण, निरपेक्ष, विशुद्ध, सर्व-भाव-ज्ञापक, लोका-लोकविषय तथा अनन्तपर्याय होता है । इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि मनुष्य की ज्ञान-प्राप्ति की प्रगति में सर्वज्ञता का एक ऐसा स्तर आता है जब उसे बिना किसी बाधा के यथार्थता का पूर्ण अन्तर्ज्ञान ही जाता है । चूंकि जैन दर्शन की आधारभूत मान्यता यह है कि इन्द्रिय तथा मन ‘ज्ञान के स्रोत’ न होकर सिर्फ ‘बाधा के स्रोत’ हैं, इसलिए स्पष्ट है कि सर्वज्ञ का स्तर दिक् तथा काल की सीमा के परे का है । अतः सर्वज्ञता एक ऐसी पूर्ण अनुभूति है जिसके अन्तर्गत दिक्काल की सीमित विशेषताओं वाले अनुभवों का समावेश नहीं होता । केवलज्ञान की श्रेष्ठता का आधार यह है कि, मति तथा श्रुत के विषय सभी पदार्थ हैं, परन्तु इनमें उनके सभी रूपों का निरूपण नहीं होता (असर्व-द्रव्येषु असर्व-पर्यायेषु); अवधि के विषय केवल भौतिक पदार्थ हैं, परन्तु इसमें उनके सभी पर्यायों का विचार नहीं होता (रूपिष्वेव द्रव्येषु पर्यायेषु); अवधि द्वारा प्राप्त भौतिक पदार्थों का अधिक शुद्ध एवं अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान मनःपर्याय है; और केवलज्ञान का विषय सभी पदार्थ हैं और इसमें उनके सभी पदार्थों का विचार होता है (सर्व-द्रव्येषु सर्वपर्यायेषु च) ।

—प्रो० एस० गोपालन (जैन दर्शन की रूपरेखा के द्वितीय भाग ‘ज्ञानमीमांसा’ में वर्णित ‘केवलज्ञान’, पृ० ६४ से साभार)